

४. शंका-समाधान

पुस्तक १, पृष्ठ २३४

१. शंका— 'तद्भ्रमणमंतरेणाशुभ्रमञ्जीवानां भ्रमद्भूम्याद्विदसंनानुपत्तेः इति' । इस वाक्यका अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं हो सका । उसमें पृथ्वीके परिभ्रमणका उल्लेखसा प्रतीत होता है । उसका अर्थ खोलकर समझानेकी कृपा कीजिये । (नेमीचंदजी बकौल, सहारनपुर, पत्र २४-१०-४१)

समाधान— प्रस्तुत प्रकरणमें शंका यह उठाई गई है कि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीव-प्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि, सर्वजीव प्रदेशोंके भ्रमण माननेपर उनके शरीरके साथ सम्बन्ध-विच्छेदका प्रसंग आता है । इस शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं कि 'यदि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीव-प्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यंत द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है ।' इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई व्यक्ति शीघ्रतासे चक्कर लेता है तो उसे कुछ क्षणके लिये अपने आसपास चारों ओरका समस्त भूमंडल पृथिवी, पर्वत, वृक्ष, गृहादि घूमता हुआ दिखाई देता है । इसका कारण पूर्वोक्त समाधानमें यह सूचित किया गया है, कि उस व्यक्तिके शीघ्रतासे चक्कर लेनेकी अवस्थामें उसके जीवप्रदेश भी शरीरके भीतर ही भीतर शीघ्रतासे भ्रमण करने लगते हैं जिसके कारण उसे पृथिवी आदि सब घूमते हुए दिखाई देने लगते हैं । यदि द्रव्येन्द्रियप्रमाण जीवप्रदेशोंको स्थिर माना जाय तो उक्त अवस्थामें भूमंडलादिके घूमते हुए दिखनेका कोई कारण नहीं रह जाता । इसलिये आचार्य कहते हैं कि 'आत्मप्रदेशोंके भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रियप्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए' । वर्तमानमें भूभ्रमण-सम्बन्धी मान्यता प्रचलित है इस शंका-समाधानसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

पुस्तक २, पृ. ४२३.

२ शंका— नकशा नं. २ में प्राणके खानेमें सयोगिकेबलीकी अपेक्षा २ प्राण भी होना चाहिए ? (रतनचंदजी मुस्तार, लहारनपुर, पत्र, ३-४-४१)

समाधान— प्रस्तुत प्रकरणमें अपर्याप्त जीवोंके सामान्य आलाप बतलाए गए हैं, जिनमें क्रमशः संज्ञी पंचेन्द्रियसे लगाकर एकेन्द्रिय तकके समस्त जीवोंकी विवक्षा है केवलिसमुद्रात जैसी विशेष अवस्थाओंकी यहां विवक्षा नहीं है । इसी कारण शंकाकार द्वारा बतलाये गये २ प्राण न मूल टीकामें कहे गये, न अनुवादमें लिये गये, और न उक्त नकशेमें दिखाये गये । किन्तु पृष्ठ नं. ४४८ नकशा नं. २५ में जहां सयोगिकेबलीके ही आलाप बतलाये गये हैं, वहांपर साधारण अवस्थामें होनेवाले चार प्राणोंका और विशेष अवस्थामें होनेवाले उक्त दो प्राणोंका उल्लेख किया ही गया है ।

पुस्तक २, पृ. ४३६-४३९

३ शंका— अर्थमें तथा नकशा नं. १४, १५, १६ और १७ में वेदके आलापमें जो तीन वेद कहे हैं सो वहां ३ भाव वेदकहना चाहिए । (मानकचंदजी खतीली, पत्र ता. १०-११-४१)

समाधान— मूल सिद्धान्त ग्रन्थोंमें गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें जीवोंके भावों और अवस्थाओंकी अपेक्षा ही विवेचन हुआ है, द्रव्यवेद और द्रव्य लेश्याकी चर्चा उत्तर कालीन टीका ग्रन्थोंमें ही दृष्टिगोचर होती है, इसलिए नकशा नं. १४, १५, १६ और १७ संबंधी आलापोंमें तथा इससे आगे पीछेके सभी आलापोंमें भाववेदकी ही विवक्षा की गई है। घबलाकारने लेश्या आलापोंमें जैसे द्रव्यलेश्या और भावलेश्याका विभाग कर पृथक् पृथक् वर्णन किया है, वैसा वेद आलापमें द्रव्यवेद और भाववेदका विभाग कर मूलमें कहीं वर्णन नहीं किया है। अतः उक्त नकशोंमें भी भाववेद लिखनेकी आवश्यकता नहीं समझी, यद्यपि तात्पर्य यहां तथा अन्यत्र भाववेदसे ही है।

पुस्तक २, पृ. ४५४

४ शंका— पृ. ४५४ यंत्र ३१, में प्राणमें अ, लिखा है सो नहीं होना चाहिये ?

(नानकचंदजी खतीली, पत्र १०-११-४१)

समाधान— जिन गुणस्थानों या जीवसमाप्तोंमें पर्याप्त और अपर्याप्त कालसम्बन्धी आलाप सम्भव हैं, उनके सामान्य आलाप कहते समय पाठकोंको भ्रम न हो, इसलिए पर्याप्त कालमें सम्भव प्राणों के आगे प लिखा गया है। तथा अपर्याप्त कालमें सम्भवित प्राणोंके आगे अ लिखा गया है। इसी नियमके अनुसार प्रस्तुत यंत्र नं. ३१ में नारक साप्रान्य मिथ्यादृष्टियोंके आलाप प्रकट करते समय पर्याप्त अवस्थामें होनेवाले १० प्राणोंके नीचे प और अपर्याप्त अवस्थामें सम्भव ७ प्राणोंके आगे अ लिखा गया है।

पुस्तक २, पृ. ६२४

५ शंका— पृ. ६२४ के विशेषार्थमें यह और होना चाहिए कि चौदहवें गुणस्थानमें पर्याप्तका उदय रहता है, लेकिन नोकर्मवर्गणा नहीं आती-?

(रतनचंदजी मुस्तार, सहारनपुर, पत्र ३-४-४१)

समाधान— उक्त विशेषार्थमें जो बात सयोगिकेवलीके लिये कही गई है, वह अयोगिकेवलीके लिये भी उपयुक्त होती है। अतएव वहां उक्त भावार्थको लेनेमें कोई आपत्ती नहीं।

पुस्तक २, पृ. ६३८

६ शंका— यंत्र नं. २५३ के प्राणके खानेमें ३, २ भी होना चाहिए, क्योंकि, योगके खानेमें ६ योग लिखे हैं ?

(रतनचंदजी मुस्तार, सहारनपुर, पत्र ३-४-४१)

समाधान— योगके खानेमें ६ योग लिखे जानेसे ३ और २ प्राण और भी कहनेकी आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। किन्तु, यहांपर ६ योगोंका उल्लेख विवक्षाभेदसे ही किया गया है, जैसा कि मूलके 'अथवा तीन योग' इस कथन से स्पष्ट है, और जिसका कि अभिप्राय वहीं पर विशेषार्थमें स्पष्ट कर दिया गया है (देखो पृ. ६३९)। इसी कारण मूलमें प्राणोंके खानेमें ३ और २ प्राणोंका उल्लेख नहीं किया जानेसे पत्रमें भी नहीं किया है।

पुस्तक २, पृ. ६४९

७ शंका— पृ. ६४९ पर काययोगी अप्रमत्तसंयत जीवोंके बालापमें वेद लिखा है तो यहाँ भाववेद होना चाहिए ?
(नानकचंदजी बत्तीली, पत्र १०-११-४१)

समाधान— इसका उत्तर शंका नंबर ३ में दे दिया गया है।

पुस्तक २, पृ. ६५५, ६६१

८ शंका— पृष्ठ ६५५ पर समाधान जो पहला किया गया है उसमें लिखा है कि 'अपर्याप्त योगमें वर्तमान कपाटसमुद्धातगत सयोगिकेवलीका पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। यही पृष्ठ ६६१ पर समाधान करते हुए लिखा है। यह किस अपेक्षासे कहा है? क्या समुद्धातमें पूर्व मूलशरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है? (नानकचंदजी, बत्तीली, पत्र १०-११-४१)

समाधान— 'अपर्याप्त योगमें वर्तमान कपाटसमुद्धातगत सयोगिकेवलीका पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, ' इसका अभिप्राय यह लेना चाहिए कि उक्त अवस्थामें जो आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर फैल गए हैं, उनका शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। आत्म-प्रदेशोंके बाहर निकलनेपर भी यदि शरीरके साथ सम्बन्ध माना जायगा, तो जिस परिमाणमें जीवप्रदेश फैले हैं, उतने परिमाणवाला ही औदारिकशरीरका होना मानना पडेगा। किन्तु ऐसा नहीं है अतः यह कहा गया है कि कपाटसमुद्धातगत सयोगिकेवलीका पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु जो आत्मप्रदेश उस समय शरीरके भीतर हैं, उनसे तो एक अपेक्षासे सम्बन्ध बना ही रहता है। इसी प्रकार किसी भी समुद्धातकी दशामें पूर्व मूलशरीरसे सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटता है। समुद्धातके लक्षणमें स्पष्ट ही कहा गया है कि मूलशरीरको न छोड़कर जीवके प्रदेशोंके बाहर निकालनेको समुद्धात कहते हैं।

पुस्तक ३, पृ- २३

९ शंका— $२^{१३}$ की वर्गशलाका अ होगी यह शुद्ध ज्ञात नहीं होता, क्योंकि $२^{५} = २५६$ होता है, और २५६ की वर्गशलाका ३ है, ४ नहीं ?

समाधान— $२^{१३}$ का अर्थ है २ का $२^{१३}$ के प्रमाण वर्ग। अब यदि हम अ को ४ के बराबर मान लें तो— $२^{१३} = २^{१३} = २^{१३} = २५६ \times २५६ = ६५५३६$, जिसकी वर्गशलाका ४ होगी। शंकाकारने भूल यह की है कि $२^{१३} = (२^{१})^{१३}$ मान लिया है। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रचलित पद्धतिके अनुसार $२^{१३} = २^{(१३)}$ होता है। अतएव अनुवादमें उदाहरणरूपसे जो बात कही गई है उसमें कोई दोष नहीं है।

पुस्तक ३. पृ. ३०

१० शंका— यहाँ सोलह राशिगत अल्पबहुत्व निरूपणमें जो अभव्योंसे सिद्धकालका गुणकार छह महिनोके अष्टम भागमें एक मिला देनेपर उत्पन्न हुई समय संख्यासे भाजित अतीत

कालका अनन्तर्वा भाग कहा है वह अशुद्ध प्रतीत होता है। मेरी राय में अतीत कालको छह माह आठ समयसे भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसको ६०८ से गुणा करनेपर उत्पन्न हुई राशिका अनन्तर्वा भाग गुणकार होना चाहिए ? (नेमीचंदजी बकील, सहारनपुर, पत्र २४-११-४१)

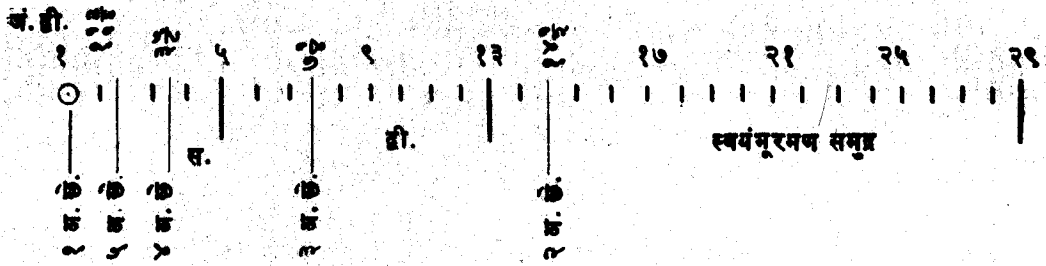
समाधान— उक्त शंकामें शंकाकारकी दृष्टि उस प्रचलित मान्यता पर है जिसके अनुसार प्रत्येक छह माह आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं। किन्तु जबलामें उक्त स्थलपर दिये गये अल्पबहुत्वमें उक्त पाठ द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती, जब तक कि उस पाठको विशेषरूपसे परिवर्तित न किया जाय। उक्त स्थलका अर्थ करते समय हमारी भी दृष्टि इस बातपर थी। किन्तु उपलब्ध पाठ वैसा होने तथा मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रतियोंके मिलानसे भी उस पाठमें कोई परिवर्तन प्राप्त न होनेसे हम उस पाठको बदलने या मूलको छोड़कर अर्थ करने में असमर्थ रहे। यथार्थतः उक्त पाठसे आगे जो सिद्धोंका गुणकार हमने 'रूपसप्तपृथक्त्व' ग्रहण कर लिया था वह पूर्वोक्त दृष्टिसे ही केवल एक प्रतीके आधार पर किया था। किन्तु दो प्रतियोंमें उसके स्थानपर 'रूपदशपृथक्त्व' पाठ था, और मूडबिद्रीके प्रति-मिलानसे भी इसी पाठकी पुष्टि हुई है। अतः इससे वह संदर्भ और भी शंकास्पद और विचारणीय हो गया है। अतएव जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण इस सम्बन्धका न मिल जावे तक तक उस सम्बन्धमें निर्णयात्मक कुछ नहीं कहा जा सकता।

पुस्तक ३, पृ. ३५

११ शंका— " रज्जुके अर्धच्छेद उत्तरोत्तर एक एक समुद्रमें द्वीप और एक एक समुद्रमें पड़ते हैं, किन्तु लवणसमुद्रमें दो अर्धच्छेद पड़ेंगे। " यह बात समझमें नहीं आती। जब घातकीखंडमें एक अर्धच्छेद पड़ेगा, और लवणसमुद्र उसका आधा है, तब उसमें दो अर्धच्छेद कैसे पड़ जायेंगे ? (नेमीचंदजी बकील, सहारनपुर, पत्र २३-११-४१)

समाधान— पूर्वोक्त शंकाका समाधान रज्जुके अर्धच्छेदोंकी व्यवस्थाको स्पष्टतः समझ लेनेसे सहज ही हो जाता है। समस्त तिर्यंग्लोक एक रज्जुप्रमाण है। अतः रज्जुको प्रथम आधा करके दो अर्धच्छेद जम्बूद्वीपके मध्यमें मेरुपर पड़ा। दूसरी बार जब हम रज्जुको आधा करेंगे तो यह दूसरा अर्धच्छेद स्वयंभूरमणद्वीपकी परिधिसे कुछ आगे चलकर स्वयंभूरमण-समुद्रमें पड़ेगा, क्योंकि, उक्त समुद्रका विस्तार भीतरके समस्त द्वीप-समुद्रोंके सम्मिलित विस्तारसे कुछ अधिक है। इसी प्रकार रज्जुको तीसरी बार आधा करनेपर तीसरा अर्धच्छेद स्वयंभूरमण-द्वीपमें उसकी प्रारम्भिक सीमासे कुछ और विशेष आगे चलकर पड़ेगा। इस प्रकार रज्जु उत्तरोत्तर छोटा होता जावेगा और उत्तरोत्तर अर्धच्छेद प्रत्येक द्वीप-समुद्रमें पड़ते जावेगे, किन्तु उनका स्थान उस उस द्वीप-समुद्रकी भीतरी परिधिसे उत्तरोत्तर आगेको बढ़ता जावेगा। इस प्रकार होते होते अन्तिम समुद्र लवणसागरमें एक अर्धच्छेद उसकी बाह्य सीमाके समीप और दूसरा उसकी भीतरी सीमाके समीप पड़ जावेगा। यही बात आगेके चित्रसे और भी स्पष्ट हो जावेगी।

मान लो कि स्वयंमूरमणसमुद्र जम्बूद्वीपसे आगे तीसरे बलयपर है, और उसीकी बाह्य सीमापर रज्जुका अंग होता है। रज्जुका प्रथम अर्धच्छेद तो जम्बूद्वीपके मध्यमें मेरुपर पड़ेगा ही। अब वहाँसे आगेका विस्तार पचास हजार योजनेको १ मान लेनेपर केवल $१+४+८+१६=२९$ योजन रहा।



अतएव रज्जुका दूसरा अर्धच्छेद $१४\frac{१}{२}$ योजन पर स्वयंमूरमणसमुद्रमें, तीसरा अर्धच्छेद $७\frac{१}{२}$ योजन पर उससे पूर्ववर्ती द्वीपमें, चौथा अर्धच्छेद $३\frac{१}{२}$ योजन पर लवणसमुद्रकी बाह्य सीमाके समीप, तथा पांचवां अर्धच्छेद $१\frac{१}{२}$ योजन पर लवणसमुद्रकी आभ्यन्तर सीमाके समीप पड़ेगा। इस प्रकार हम कितने ही द्वीप समुद्र आगे आगे मान लें तो भी लवणसमुद्रमें अन्ततः दो ही अर्धच्छेद पड़ेंगे। यही बात त्रिलोकसार की गाथा नं. ३५२-३५८ में कही गई है।

पुस्तक ३, पृ. ४४

१२ शंका—पुस्तक ३ के पृ. ४४ पर क्षेत्राकारके द्वारा जो यह समझाया गया है कि संपूर्ण जीवराशिके वर्गको दूसरे भाग अधिक जीवराशिसे भाजित करनेपर तीसरा भागहीन जीवराशि प्राप्त होती है, सो यह बात वहाँ दिये गये आकारसे समझमें नहीं आती। कृपया समझाइये ? (नेमीचंदजी वकील, सहारनपुर, पत्र २४-११-४१)

समाधान— मान लीजिये, सर्व जीवराशि १६ है, इसका वर्ग हुआ $१६ \times १६ = २५६$ अब यदि हम इस जीवराशिके वर्ग (२५६) में जीवराशि (१६) का भाग देते हैं तो $\frac{२५६}{१६} = १६$ अर्थात् जीवराशि प्रमाण ही लब्ध आता है। और यदि उसी जीवराशिके वर्गमें द्विभाग अधिक जीवराशि ($१६+८=२४$) का भाग देते है तो त्रिभागहीन जीवराशिप्रमाण, अर्थात् $\frac{२५६}{२४} = १०\frac{२}{३}$ आता है; जैसे $\frac{२५६}{३६} = ७\frac{१}{३}$ ।

इसी बातको घबलाकारने क्षेत्रमिति द्वारा भी समझाया है जिसका कि अनुवादके साथ चित्र भी दिया गया है। इस चित्रमें स ड जीवराशि (मानलो १६) है, उसको स ड' (१६) से वर्गित करनेपर प्रताराकार क्षेत्र स ड स' ड' बन जाता है जिसमें अंकप्रमाण दिखानेके लिये

५. विषय-परिचय

जीवस्थानकी पूर्वं प्रकाशित दो प्ररूपणाओं—सत्प्ररूपणा और द्रव्यप्रमाणानुगममें क्रमशः जीवका स्वरूप, गुणस्थान व मार्गणास्थानानुसार भेद तथा प्रत्येक गुणस्थान व मार्गणास्थानसंबंधी जीवोंका प्रमाण व संस्था बतलाई जा चुकी है। अब प्रस्तुत भागमें जीवस्थानसंबंधी आगेकी तीन प्ररूपणाएं प्रकाशित की जा रही हैं— क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम और कालानुगम।

१ क्षेत्रानुगम

क्षेत्रानुगममें जीवोंके निवास व विहारादिसंबंधी क्षेत्रका परिमाण बतलाया गया है। इस संबंधमें प्रथम प्रश्न यह उठता है कि यह क्षेत्र है कहां? इसके उत्तरमें अनन्त आकाशके दो विभाग किये गये हैं। एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश समस्त आकाशके मध्यमें स्थित है, परिमित है और जीवादि पांच द्रव्योंका आधार है। उसके चारों तरफ शेष समस्त अनन्त आकाश अलोकाकाश है। उक्त लोकाकाशके स्वरूप और प्रमाणके संबंधमें दो मत हैं। एक मतके अनुसार यह लोकाकाश अपने तलभागमें सात राजु व्यासवाला गोलाकार है। पुनः ऊपरको क्रमसे घटता हुआ अपनी आधी उंचाई अर्थात् सात राजुपर एक राजु व्यासवाला रह जाता है। वहांसे पुनः ऊपरको क्रमसे बढ़ता हुआ साढे तीन राजु ऊपर जाकर पांच राजु व्यासप्रमाण हो जाता है और वहांसे पुनः साढे तीन राजु घटता हुआ अपने सर्वोपरि उच्च भागपर एक राजु व्यासवाला रह जाता है। इस मतके अनुसार लोकका आकार ठीक अधोभागमें, वेत्रासन, मध्यमें झल्लरी ओर ऊर्ध्वभागमें मृदंगके समान हो जाता है। किन्तु घबलाकारने इस मतको स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि, ऐसे लोकमें जो प्रमाणलोकका घनफल जगत्श्रेणी अर्थात् सात राजुके घनप्रमाण कहा है, वह प्राप्त नहीं होता। यह बात स्पष्टतः दिखलानेके लिये उन्होंने अपने समयके गणितज्ञानकी विविध और अश्रुतपूर्व प्रक्रियाओं द्वारा इस प्रकारके लोकके अधोभाग व ऊर्ध्वभागका घनफल निकाला है जो कुल $16 \frac{1}{2}$ घनराजु होनेसे श्रेणीके घन अर्थात् ३४३ घनराजुसे बहुत हीन रह जाता है। इसलिए उन्होंने लोकका आकार पूर्व-पश्चिम दो दिशाओंमें तो ऊपरकी ओर पूर्वोक्त क्रमसे घटता बढ़ता हुआ, किन्तु उत्तर-दक्षिण दो दिशाओंमें सर्वत्र सात राजु ही माना है। इस प्रकार यह लोक गोलाकार न होकर समचतुरस्राकार हो जाता है और दो दिशाओंसे उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके सदृश ही दिखाई दे जाता है। ऐसे लोकका प्रमाण ठीक श्रेणीका घन $7^3 = 7 \times 7 \times 7 = 343$ घनराजु हो जाता है। यही लोक जीवादि पाँचों द्रव्योंका क्षेत्र है।

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त ३४३ धनराजुप्रमाण केवल असंख्यात प्रदेशात्मक अत्यन्त परिमित क्षेत्रमें अनन्त जीव व अनन्त पुद्गल परमाणु कैसे रह सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जीवों और पुद्गल-परमाणुओंमें अप्रतिष्ठातरूपसे अन्योन्यावगाहन शक्ति विद्यमान है जिसके कारण अंगुलके असंख्यातवें भागमें भी अनन्तानन्त जीवोंका और जीवके भी प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त औदारिकादि पुद्गल परमाणुओंका अस्तित्व बन जाता है।

अथ अर्थात् गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवोंका क्षेत्र ४ सूत्रोंमें बतला दिया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वलोकमें व अयोगिकेवली और शेष सासादनसम्यग्दृष्टि आदि समस्त बारह गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव लोकके असंख्यातवें भागमें, और सयोगिकेवली लोकके असंख्यातवें भागमें, असंख्यात बहु भागोंमें, तथा सर्वलोकमें रहते हैं। ध्वलाकारने इन सूत्र-वचनोंकी एक ओर जीवोंकी नाना अवस्थाओंका विचार करके, और दूसरी ओर सूक्ष्मतर क्षेत्रमानके लिये लोकको पांच विभागोंमें बांटकर बड़े विस्तारसे समझाया है।

क्षेत्रावगाहनाकी अपेक्षासे जीवोंकी तीन अवस्थाएं हो सकती है (१) स्वस्थान (२) समुद्रात और (३) उपपाद। स्वस्थान भी दो प्रकारका है— अपने स्थायी निवासके क्षेत्रकी स्वस्थान-स्वस्थान, और अपने विहारके क्षेत्रको विहारवत्स्वस्थान कहते हैं। जीवके प्रदेशोंका उनके स्वाभाविक संगठनसे अधिक फैलना समुद्रात कहलाता है। वेदना और पीड़ाके कारण जीवाप्रदेशोंके फैलनेको वेदनासमुद्रात कहते हैं। क्रोधादि कषायोंके कारण जीव-प्रदेशोंके विस्तारको कषायसमुद्रात कहते हैं। इसी प्रकार अपने स्वाभाविक शरीरके आकारको पूरी तरह छोड़कर अन्य शरीराकार परिवर्तनको वैक्रियिकसमुद्रात, मरनेके समय अपने पूर्व शरीरको न छोड़कर नवीन उत्पत्तिस्थान तक जीव-प्रदेशोंके विस्तारको मारणान्तिक, तैजस-शरीरकी अप्रशस्त व प्रशस्त विक्रियाको तैजससमुद्रात, ऋद्धिप्राप्त मुनियोंके शंका-निवारण आदिके लिए कुछ जीवप्रदेशोंके प्रस्तारको आहारकसमुद्रात, और सर्वज्ञताप्राप्त केवलीके प्रदेशोंका आयुर्कर्मको छोड़कर शेष कर्मक्षय-निमित्त दंडाकार, कपाटाकार, प्रतराकार व लोक-पूरणरूप प्रस्तारको केवलिसमुद्रात कहते हैं— जीवका अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर तीरके समान सीधे व एक, दो या तीन मोड़े लेकर अन्य पर्यायके ग्रहणक्षेत्र तक गमन करनेको उपपाद कहते हैं। इन्हीं दश—अर्थात् (१) स्वस्थानस्वस्थान (२) विहारवत्स्वस्थान (३) वेदनासमुद्रात (४) कषायसमुद्रात (५) वैक्रियिकसमुद्रात (६) मारणान्तिकसमुद्रात (७) तैजससमुद्रात (८) आहारकसमुद्रात (९) केवलिसमुद्रात और (१०) उपपाद अवस्थाओंकी अपेक्षासे यथासम्भव अपने अपने भिन्न भिन्न गुणस्थानों और मार्गणस्थानों स्थित जीवोंके क्षेत्रप्रमाणको इस क्षेत्रप्ररूपणमें बतलाया गया है।

सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम क्षेत्रमानके लिये ध्वलाकारने पांच प्रकारसे लोकका ग्रहण किया है (१) समस्त लोक या सामान्य लोक जो ७ राजुका धनप्रमाण है; (२) अर्धलोक जो १९६ धनराजुप्रमाण है, (३) ऊर्ध्वलोक जो १४७ धनराजुप्रमाण है (४) तिर्यक्लोक जो

मध्यलोक जो १ राजूके प्रतर या वर्गप्रमाण है; और (५) मनुष्यलोक जो अढ़ाई द्वीपप्रमाण, अर्थात् ४५ लाख व्यासवाला वर्तुलाकार क्षेत्र है। किसी भी प्रकारके जीवोंका क्षेत्रमान बतलानेके लिये घबलाकारने उस उस जातिशेषवाली प्रधान राशिको लेकर उसके क्षेत्रावगाहनका विचार किया है। उदाहरणार्थ— विहारवत्स्वस्थानवाले मिथ्यादृष्टियोंके क्षेत्रका विचार करते समय उन्होंने त्रसपर्याप्तराशिको ही विहार करनेकी योग्यता रखनेवाली मानकर पहले यह निदिष्ट कर दिया कि किसी भी समयये इस राशिका संख्यातवां भाग ही विहार करेगा। फिर उन्होंने इस विहार करनेवाली राशिमें स्वयंप्रभनागेन्द्र पर्वतके परभागवर्ती बड़े बड़े त्रस जीवोंका विचार किया, जिनमें द्वीन्द्रिय जीव शंख बारह योजनका, त्रीन्द्रिय गोम्ही तीन कोसकी, चतुरिन्द्रिय भ्रमर एक योजनका और पंचेन्द्रिय मच्छ एक हजार योजनका होता है। अतएव ऐसे प्रत्येक जीवका उन्होंने क्षेत्रमितीके सूत्र व विधान देकर प्रमाणांगुलोंमें घनफल निकाला, और फिर इस उत्कृष्ट अवगाहनमें जघन्य अवगाहनका अंगुलका असंख्यातवां भाग जोड़कर उसका आधा किया जिससे उस राशिके एक जीवकी मध्यम अर्थात् औसत अवगाहना संख्यात घनांगुल आ गई। समस्त त्रस पर्याप्तराशि प्रतरांगुलके संख्यातवें भागसे भाजित जगप्रतरप्रमाण है और इसका केवल संख्यातवां भाग विहार करता है। अतः इस संख्यातवें भागको पूर्वोक्त घनफलसे गणा करनेपर विहारवत्स्वस्थान मिथ्यादृष्टिराशिका क्षेत्र संख्यात सूच्यंगुलगुणित जगद्वप्रतर-प्रमाण होता है, जो लोकका असंख्यातवां भाग, और उसी प्रकार अधोलोक और ऊर्ध्वलोकका भी असंख्यातवां भाग, तिर्यंग्लोकका संख्यातवां भाग और मनुष्यलोक या अढ़ाईद्वीपसे असंख्यात गुणा होगा।

२ स्पर्शनानुगम

स्पर्शनप्ररूपणामें यह बतलाया गया है कि भिन्न भिन्न गुणस्थानवाले जीव, तथा गति आदि भिन्न भिन्न मार्गणास्थानवाले जीव तीनों कालोंमें पूर्वोक्त दश अवस्थाओंद्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श कर पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्षेत्र और स्पर्शन प्ररूपणाओंमें विशेषता इतनी ही है कि क्षेत्रप्ररूपणा तो केवल वर्तमानकालकी ही अपेक्षा रखती है, किन्तु स्पर्शन प्ररूपणामें अतीत और अनागतकालका भी, अर्थात् तीनों कालोंका क्षेत्रमान ग्रहण किया जाता है।

उदाहरणार्थ— क्षेत्रप्ररूपणामें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका क्षेत्र लोकका असंख्यातवां भाग बताया गया है। यह क्षेत्र वर्तमानकालसे ही सम्बन्ध रखता है, अर्थात् वर्तमानमें इस समय स्वस्थानादि यथासंभव पदोंको प्राप्त सासादनसम्यग्दृष्टि जीव लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रको व्याप्त करके विद्यमान हैं। यही बात स्पर्शनप्ररूपणामें वर्तमानकालिक स्पर्शनको बताते समय कही है। उसके पश्चात् दूसरे सूत्रमें अतीतकालसम्बन्धी स्पर्शनक्षेत्र बतलाया गया है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने अतीतकालमें देशीन आठ बटे चौदह (१६) और बारह बटे चौदह (१३) भाग स्पर्श किए हैं। इसका अभिप्राय जान लेना आवश्यक है। ती नसी तेतालीस घनराजूप्रमित इस लोकाकशके ठीक मध्य भागमें वृक्षमें सारके समान एक राजू

लम्बी चौड़ी और चौदह राजु ऊंची लोकनाली अवस्थित है। इसे त्रसनाली भी कहते हैं, क्योंकि, त्रसजीवोंका संचार इसके ही भीतर होता है। केवल कुछ अपवाद हैं, जिनमें कि इसके भी बाहर त्रसजीवोंका पाया जाना संभव है। इस त्रसनालीके एक एक राजु लम्बे, चौड़े और मोटे भाग बनाए जावें तो चौदह भाग होते हैं। उनमेंसे जो जीव जितने घनराजुप्रमाण क्षेत्रको स्पर्श करता है, उसका उतना ही स्पर्शनक्षेत्र माना जाता है। जैसे प्रकृतमें सासादन-सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्शनक्षेत्र आठ बटे चौदह (५६) या बारह बटे चौदह (१३) भाग बताया गया है। इनमेंसे विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकसमुद्धातगत सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने उक्त त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे आठ भागोंको स्पर्श किया है, अर्थात् आठ घनराजुप्रमाण त्रसनालीके भीतर ऐसा एक प्रदेश नहीं है कि जिसे अतीतकालमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी, इन सभीने मिलकर) स्पर्श न किया हो। यह आठ घनराजुप्रमाण क्षेत्र त्रसनालीके भीतर जहां कहीं नहीं लेना चाहिए, किन्तु नीचे तीसरी वालुका पृथिवीसे लेकर ऊपर सोलहवें अच्युतकल्प तक लेना चाहिये। इसका कारण यह है कि भवनवासी देव स्वतः नीचे तीसरी पृथिवी तक विहार करते हैं, और ऊपर सौधर्मविमानके शिखरध्वजदंड तक। किन्तु उपरिम देवोंके प्रयोगसे ऊपर अच्युतकल्प तक भी विहार कर सकते हैं (देखो. पृ. २२९)। उनके इतने क्षेत्रमें विहार करनेके कारण उक्त क्षेत्रका मध्यवर्ती एक भी आकाश-प्रदेश ऐसा नहीं बचा है कि जिसे अतीत कालमें उक्त गुणस्थानवर्ती देवोंने स्पर्श न किया हो। इस प्रकार इस स्पर्श किये गये क्षेत्रको लोकनालीके चौदह भागोंमेंसे आठ भागप्रमाण स्पर्शनक्षेत्र कहते हैं। मारणान्तिकसमुद्धातकी अपेक्षा उक्त गुणस्थानवर्ती जीवोंने लोकनालीके चौदह भागोंमेंसे बारह भाग स्पर्श किये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि छठी पृथिवीके सासादन-गुणस्थानवर्ती नारकी मध्यलोक तक मारणान्तिकसमुद्धात कर सकते हैं, और सासादनसम्यग्दृष्टि भवनवासी आदि देव आठवी पृथिवीके ऊपर विद्यमान पृथिवीकायिक जीवोंमें मारणान्तिकसमुद्धात कर सकते हैं, या करते हैं। इस प्रकार मेरुतलसे छठी पृथिवी तकके ५ राजु, और ऊपर लोकान्त तकके ७ राजु, दोनों मिलाकर १२ राजु हो जाते हैं। यही बारह घनराजुप्रमाण क्षेत्र त्रसनालीके बारह बटे चौदह (१३) भाग, अथवा त्रसनालीके चौदह भागोंसे बारह भागप्रमाण स्पर्शनक्षेत्र कहा जाता है।

इस उक्त प्रकारसे बतलाए गए स्पर्शनक्षेत्रको यथासंभव जान लेना चाहिए। ध्यान रखनेकी बात केवल इतनी ही है कि वर्तमानकालिक स्पर्शनक्षेत्र तो लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण होता है, किन्तु अतीतकालिक स्पर्शनक्षेत्र त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे यथासंभव १३, १६, को आदि लेकर १३ तक होता है। मिथ्यादृष्टि जीवोंका मारणान्तिक, वेदना, कषायसमुद्धात आदिकी अपेक्षा सब लोक स्पर्शनक्षेत्र होता है, क्योंकि, सारे लोकमें सर्वत्र ही एकेन्द्रिय जीव ठूमाठस भरे हुए हैं और गमनागमन कर रहे हैं, अतएव उनके द्वारा समस्त लोकाकाय वर्तमानमें भी स्पर्श हो रहा है और अतीतकालमें भी स्पर्श किया जा चुका है।

इन एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवोंके अतिरिक्त सयोगिकेवली भगवान् भी प्रतरसमुद्धातके समय लोकके असंख्यात बहु भागोंको और लोकपूरणसमुद्धातके समय सर्व लोकाकाशको स्पर्श करते हैं। तथा उपपाद और मारणान्तिकसमुद्धातवाले त्रसजीवोंका भी त्रसनालीके बाहर अस्तित्व पाया जाता है। वह इस प्रकारसे कि लोकके अन्तिम वातवलयमें स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगतिद्वारा त्रसनालीके अन्तःस्थित त्रसपर्यायमें उत्पन्न होनेवाला है वह जीव जिस समय मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है, उस समय त्रसपर्याप्तको धारण करने पर भी वह त्रसनालीके बाहर है, अतएव उपपादकी अपेक्षा त्रसजीव त्रसनालीके बाहर रहता है। इसी प्रकार त्रसनालीमें स्थित किसी ऐसे त्रसजीवने जिसे कि त्रसनालीके बाहर मरकर उत्पन्न होना है मारणान्तिक-समुद्धातके द्वारा त्रसनालीके बाहरके आकाश-प्रदेशोंका स्पर्श किया, तो उस समय भी त्रसजीवका अस्तित्व त्रसनालीके बाहर पाया जाता है, (देखो. पृ. २१२)। उक्त तीन अवस्थाओंको छोड़कर शेष त्रसजीव त्रसनालीके बाहर कभी नहीं रहते हैं।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणास्थानोंमें उक्त स्वस्थानादि दश पदोंको प्राप्त जीवोंका स्पर्शनक्षेत्र इस स्पर्शनप्ररूपणामें बतलाया गया है।

स्पर्शनप्ररूपणकी कुछ विशेष बातें

सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका क्षेत्र निकालते हुए प्रसंगवश असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके ऊपर आकाशमें स्थित समस्त चंद्रोंके प्रमाणको भी गणितशास्त्रके अनेक अदृष्टपूर्व करणसूत्रोंके द्वारा निकाला गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि एक चंद्रके परिवारमें एक सूर्य, अठासी ग्रह, अट्ठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौसौ पचहत्तर कोड़ाकोडी (६६९७५०००००००००००००००००) तारे होते हैं। इस चारों प्रकारके परिवारके प्रमाणसे चन्द्रबिम्बोंकी संख्याको गुणा कर देनेपर समस्त ज्योतिष्क देवोंका प्रमाण निकल आता है।

इसी बीचमें घबलाकारने ज्योतिष्क देवोंके भागहारको उत्पन्न करनेवाले सूत्रसे अवलम्बित युक्तिके बलसे यह सिद्ध किया है कि चूकि— स्वयंभूरमणसमुद्रके परभागमें भी राजुके अर्धच्छेद पाये जाते हैं, इसलिए स्वयंभूरमणसमुद्रके परभागमें भी असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके व्यास-रुद्ध योजनोंसे संख्यात हजार गुने योजन आगे जाकर तिर्यग्लोककी समाप्ति होती है, अर्थात् स्वयंभूरमणसमुद्रकी बाह्यवेदिकाके परे भी पृथिवीका अस्तित्व है; वहां भी राजुके अर्धच्छेद उपलब्ध होते हैं; किन्तु वहांपर ज्योतिषी देवोंके विमान नहीं हैं। (देखो पृ. १५०-१६०)

इसी प्रकरणमें उन्होंने अपनी उक्त बातकी पुष्टि करते हुए जो उदाहरण दिए हैं, उनसे एकदम तीन ऐसी बातोंपर प्रकाश पड़ता है, जिनसे पता चलता है कि वे बातें वीरसेनाचार्यके पूर्ववर्ती दिगम्बर साहित्यमें प्रतिष्ठित नहीं थीं और सर्व प्रथम इन्होंने उनकी प्रतिष्ठा की है।

वे नवीन प्रतिष्ठित तीनों बातें इस प्रकार हैं—

(१) 'संख्यात आवलियोंका एक अन्तर्मुहूर्त होता है' इस प्रचलित और सर्वमान्य

मान्यता को भी 'एवेहि पलिदोवमवहिरदि अंतोमुहुत्सेण कालेण' (द्रव्यप्र. सू ६) इस सूत्रके आधारसे 'अन्तर्मुहूर्त' इस पदमें पड़े हुए अन्तर शब्दको सामीप्यार्थक मानकर यह सिद्ध किया है कि अन्तर्मुहूर्तका अभिप्राय मुहूर्तसे अधिक कालका भी हो सकता है।

(२) दूसरी बात आयतचतुरस्र लोक-संस्थानके उपदेशकी है, जिसका अभिप्राय समझनेके लिये इसी भागके पृ. ११ से २२ तकका अंश देखिए। उससे ज्ञात होता है कि घबलाकारके सामने विद्यमान करणानुयोगसम्बन्धी साहित्यमें लोकके आयतचतुस्त्राकार होनेका विधान या प्रतिषेध कुछ भी नहीं मिल रहा था, तो भी उन्होंने प्रतरसमुद्धातगत केवलीके क्षेत्रके साधनार्थ कही गई दो गाथाओंके (देखो इसी भागके पृ. २०-२१) आधारपर यही सिद्ध किया है कि लोकका आकार आयतचतुष्कोण है, न कि अन्य आचार्योंसे प्ररूपित १६४ $\frac{1}{4}$ घनराजु प्रमाण मृदंगके आकार। साथ ही उनका कहना है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो उक्त दोनों गाथाओंको अप्रमाणता और लोकमें ३४३ घनराजुओंका अभाव प्राप्त होगा। इसलिए लोकका आकार आयतचतुरस्र ही मानना चाहिए।

(३) तीसरी बात स्वयंभूरमणसमुद्रके परभागमें पृथिवीके अस्तित्व सिद्ध करनेकी है जिसका उल्लेख पूर्वमेंही किया जा चुका है। (देखो पृ. १५५-१५८ तक)

इस प्रकार बड़े जोरदार शब्दोंमें उक्त तीनों बातोंका समर्थन करनेके पश्चात् भी उनकी निष्पक्षता दर्शनीय है। वे लिखते हैं— 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्त हठ पकड़ करके असद् आप्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि, परमगुरुओंकी परम्परासे आए हुए उपदेशको युक्तिके बलसे अयथार्थ सिद्ध करना अशक्य है, तथा अतीन्द्रिय पदार्थोंमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उठाए गए विकल्पोंके अविश्ववादी होनेका नियम नहीं है। अतएव पुरातन आचार्योंके व्याख्यानका परित्याग न करके हेतुवाद (तर्कवाद) के अनुसरण करनेवाले व्युत्पन्न शिष्योंके अनुरोधसे तथा अब्युत्पन्न शिष्यजनोंके व्युत्पादनके लिये यह दिशा भी दिखाना चाहिए। (देखो पृ. १५७-१५८)

तिर्यंचोंके स्वस्थानस्वस्थानक्षेत्रको निकालते हुए द्वीप और समुद्रोंका क्षेत्रफल अनेक करणसूत्रोंद्वारा पृथक् पृथक् और सम्मिलित निकालनेकी प्रक्रियाएं दी गई हैं, और साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि इस मध्यलोकमें कितना भाग समुद्रसे रका हुआ है।

(देखो. पृ. १९४-२०३)

कायमार्गणामें बादर पृथिवीकायिक जीवोंके स्पर्शनक्षेत्रको बतलाते हुए रत्नप्रभादि सातों पृथिवीयोंकी लम्बाई चौड़ाईका भी प्रमाण बतलाया गया है।

३. कालानुगम

उक्त प्ररूपणाओंके समान कालप्ररूपणामें भी ओघ और आदेशकी अपेक्षा कालका निर्णय किया गया है, अर्थात् यह बतलाया गया है कि यह जीव किस गुणस्थान या मार्गणास्थानमें कमसे कम कितने काल तक रहता है, और अधिकसे अधिक कितने काल रहता है।

उदाहरणार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यास्वगुणस्थानमें कितने काल तक रहते हैं! इस प्रश्नके

उत्तरमें बतलाया गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वकाल ही मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहते हैं, अर्थात् तीनों कालोंमें ऐसा एक भी समय नहीं है, जब कि मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जाते हो। किन्तु, एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका काल तीन प्रकारका होता है— अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। जो अभव्य जीव हैं, अर्थात् त्रिलोकमें भी जिनको सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होना है, ऐसे जीवोंके मिथ्यात्वका काल अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि, उनके मिथ्यात्वका न कभी आदि हैं, न अन्त। जो अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव हैं, उनके मिथ्यात्वका काल अनादि-सान्त है, अर्थात् अनादि कालसे आज तक सम्यक्त्वकी प्राप्ति न होनेसे तो उनका मिथ्यात्व अनादि है, किन्तु आगे जाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति और मिथ्यात्वका अन्त हो जानेसे वह मिथ्यात्व सान्त है। षवलाकारने इस प्रकारके जीवोंमेंसे वर्द्धनकुमारका दृष्टान्त दिया है, जो कि उस पर्यायमें सर्व प्रथम सम्यक्त्वी हुए थे। इस प्रकार सर्व प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके सम्यक्त्व प्राप्तिके पूर्व समय तक उनके मिथ्यात्वका काल अनादि-सान्त समझना चाहिए। जिन जीवोंने एक बार सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया, तथापि परिणामोंके संक्लेशादि निमित्तसे जो फिर भी मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाते हैं, उनके मिथ्यात्वका काल सादि-सान्त माना जाता है, क्योंकि, उनके मिथ्यात्वका आदि और अन्त, ये दोनों पाये जाते हैं। इस प्रकारके जीवोंमें भी श्रीकृष्णका दृष्टान्त षवलाकारने दिया गया।

प्रकृतमें अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त मिथ्यात्वके कालको छोड़कर सादि-सान्त मिथ्यात्वकालकी ही विवक्षा की गई है और उसीकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल बतलाया गया है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि, या असंयतसम्यग्दृष्टि या संयतासंयत या प्रमत्तसंयत जीव परिणामोंके निमित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ और मिथ्यात्वदशामें सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहकर पुनः सम्यग्मिथ्यात्वको, या असंयतसम्यक्त्वको या, संयमासंयम अथवा अप्रमत्तसंयमको प्राप्त हो गया, तो ऐसे जीवके मिथ्यात्वका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण पाया जाता है। ऐसे मिथ्यात्वको सादि-सान्त कहते हैं, क्योंकि, उसका आदि और अन्त दोनों पाये जाते हैं। इसी सादि-सान्त मिथ्यात्वका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई जीव प्रथम बार सम्यक्त्वी होकर पुनः मिथ्यात्वी हो जाता है तो वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालके भीतर अवश्य ही पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है। (अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालके लिये देखिये पृ. ३२५-३३२)

इसी प्रकार शेष गुणस्थानोंके भी जघन्य और उत्कृष्ट काल बतलाये गये हैं।

